International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 30-07-2025, Accepted: 31-08-2025, Published: 15-09-2025
Volume 11, Issue 3, 2025, Page No. 113-114

ब्रिटिश शासन में दलित अवस्था और दलित मनोवृत्ति का स्वरूप

लालचंद[1], डॉ. अशोक धारनिया[2]
[1] शोधार्थी, हिंदी विभाग, टांटिया यूनिवर्सिटी, श्रीगंगानगर, राजस्थान, भारत
[2] सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, टांटिया यूनिवर्सिटी, श्रीगंगानगर, राजस्थान, भारत

सारांश
औपनिवेशिक काल में दलित समाज की सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति का समग्र विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट होता है कि ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज की पारंपरिक जाति व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त नहीं किया, बल्कि कई स्तरों पर उसे नई संरचनात्मक जटिलताओं के साथ बनाए रखा। प्रशासनिक नीतियों, भूमि व्यवस्था, शिक्षा प्रणाली और जनगणना की प्रक्रियाओं ने दलित समुदाय की पहचान को एक पृथक सामाजिक वर्ग के रूप में चिह्नित किया। दलितों की दयनीय सामाजिक स्थिति, अस्पृश्यता, आर्थिक शोषण और शिक्षा से वंचित रहने की समस्या ने औपनिवेशिक शासन के दौरान सामाजिक सुधार आंदोलनों, मिशनरी गतिविधियों और आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने दलित समाज में आत्मचेतना और आत्म सम्मान की भावना को जन्म दिया। इस परिवेश में दलित मनोवृत्ति में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगा, जिसमें दासता की स्वीकृति के स्थान पर अधिकारबोध और प्रतिरोध की भावना विकसित हुई। ब्रिटिश काल दलित समाज के लिए केवल शोषण का काल नहीं था, बल्कि यह जागरण और सामाजिक चेतना के विकास का भी एक महत्वपूर्ण चरण था।

मूल शब्दः ब्रिटिश, दलित, अवस्था, मनोवृत्ति, काल, शिक्षा, व्यवस्था

प्रस्तावना

भारतीय समाज की संरचना प्राचीन काल से ही वर्ण और जाति आधारित रही है। इस व्यवस्था ने सामाजिक जीवन को एक निश्चित ढांचे में बाँध दिया, जिसमें उच्च और निम्न का स्पष्ट विभाजन विद्यमान था। इस विभाजन का सबसे अधिक दुष्प्रभाव दलित वर्ग पर पड़ा, जिन्हें सामाजिक रूप से बहिष्कृत और धार्मिक रूप से अस्पृश्य घोषित कर दिया गया। ब्रिटिश शासन के आगमन से भारतीय समाज में राजनीतिक परिवर्तन अवश्य आया, किंतु सामाजिक स्तर पर परिवर्तन की प्रक्रिया जटिल और धीमी रही। इस लेख में ब्रिटिश काल के संदर्भ में दलित समाज की स्थिति, उनके जीवन की वास्तविकताओं और उनकी मनोवृत्ति में आए परिवर्तन का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

ब्रिटिश शासन से पूर्व भारतीय समाज की संरचना कठोर जाति व्यवस्था पर आधारित थी। दलित वर्ग को मंदिर प्रवेश, सार्वजनिक जलस्रोतों के उपयोग, शिक्षा और सामाजिक सहभागिता से वंचित रखा जाता था। वे प्रायः समाज के सबसे निचले और श्रमसाध्य कार्यों में लगे रहते थे। आर्थिक संसाधनों पर उनका कोई अधिकार नहीं था। भूमिहीनता और निर्धनता उनकी नियति बन चुकी थी। यह स्थिति केवल आर्थिक ही नहीं, बल्कि मानसिक दासता का भी कारण थी। दलित समुदाय को यह विश्वास दिला दिया गया था कि उनका स्थान समाज में सदा निम्न ही रहेगा।

जब ब्रिटिश शासन स्थापित हुआ, तब प्रशासनिक और कानूनी ढांचे में परिवर्तन आरंभ हुए। ब्रिटिश सरकार ने अपने शासन को संगठित और प्रभावी बनाने के लिए जनगणना, भूमि सर्वेक्षण और प्रशासनिक वर्गीकरण की प्रक्रियाएँ प्रारंभ कीं। इन प्रक्रियाओं में जातियों को पृथक रूप से दर्ज किया गया। इससे दलित समुदाय की एक अलग सामाजिक पहचान सामने आई। हालांकि यह पहचान सम्मानजनक नहीं थी, फिर भी इससे एक नई सामाजिक चेतना के बीज पड़े।

ब्रिटिश शासन ने भूमि व्यवस्था में स्थायी बंदोबस्त, रैयतवाड़ी और महालवाड़ी जैसी व्यवस्थाएँ लागू कीं। इन व्यवस्थाओं का उद्देश्य राजस्व संग्रह को सुदृढ़ करना था, न कि सामाजिक न्याय स्थापित करना। परिणामस्वरूप भूमिधारिता पर उच्च जातियों का प्रभुत्व बना रहा। दलित वर्ग प्रायः कृषक मजदूर या बंधुआ श्रमिक के रूप में कार्य करता रहा। उनकी आर्थिक स्थिति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं आया। कई स्थानों पर तो शोषण के नए रूप सामने आए, क्योंकि जमींदार और महाजन वर्ग अधिक सशक्त हो गए।

औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया ने भी दलित समाज को प्रभावित किया। शहरों में रोजगार के नए अवसर उत्पन्न हुए, जिनमें जातिगत प्रतिबंध अपेक्षाकृत कम थे। कुछ दलित व्यक्तियों को औद्योगिक श्रमिक के रूप में कार्य करने का अवसर मिला। इससे उनकी आय के स्रोतों में कुछ विविधता आई। हालांकि यह परिवर्तन सीमित था, फिर भी इससे पारंपरिक सामाजिक ढांचे में हलचल अवश्य हुई।

शिक्षा के क्षेत्र में ब्रिटिश शासन का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। मिशनरी संस्थाओं ने दलित समुदाय को शिक्षा प्रदान करने का प्रयास किया। उन्होंने विद्यालय स्थापित किए और सामाजिक समानता का संदेश दिया। आधुनिक शिक्षा ने दलित समाज के कुछ वर्गों में आत्मसम्मान और अधिकार चेतना को जन्म दिया। शिक्षा के माध्यम से वे यह समझने लगे कि सामाजिक असमानता प्राकृतिक या दैवीय नहीं, बल्कि मानवीय व्यवस्था का परिणाम है।

ब्रिटिश काल में सामाजिक सुधार आंदोलनों का भी उदय हुआ। विभिन्न समाज सुधारकों ने अस्पृश्यता और जातिगत भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाई। यद्यपि इन आंदोलनों का प्रभाव तत्काल व्यापक नहीं था, परंतु उन्होंने सामाजिक विमर्श को नई दिशा दी। दलित समुदाय के भीतर भी संगठन और आत्मबोध की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। धीरे धीरे दलित नेतृत्व उभरने लगा, जिसने अपने अधिकारों की मांग को स्वर दिया।

राजनीतिक क्षेत्र में भी परिवर्तन देखने को मिला। ब्रिटिश शासन ने सीमित रूप से प्रतिनिधित्व की व्यवस्था लागू की। पृथक निर्वाचन और आरक्षित प्रतिनिधित्व की अवधारणा ने दलितों को राजनीतिक पहचान प्रदान की। इससे दलित वर्ग ने स्वयं को केवल सामाजिक ही नहीं, बल्कि राजनीतिक इकाई के रूप में भी देखना आरंभ किया। यह परिवर्तन उनकी मनोवृत्ति के निर्माण में महत्वपूर्ण रहा।

दलित मनोवृत्ति के संदर्भ में यह समझना आवश्यक है कि सदियों की सामाजिक उपेक्षा ने उनमें हीनभावना और भय को जन्म दिया था। वे सामाजिक संरचना को अपरिवर्तनीय मानते थे। परंतु औपनिवेशिक काल में शिक्षा, राजनीतिक चेतना और सामाजिक आंदोलनों के प्रभाव से उनकी मानसिकता में परिवर्तन आया। उन्होंने अन्याय को नियति न मानकर प्रश्न करना प्रारंभ किया। आत्मसम्मान और अधिकारबोध की भावना विकसित होने लगी।

हालांकि यह भी सत्य है कि ब्रिटिश शासन ने जाति व्यवस्था को समाप्त करने का कोई ठोस प्रयास नहीं किया। कई बार प्रशासनिक सुविधा के लिए जातिगत पहचान को और अधिक स्थायी रूप दिया गया। इस प्रकार औपनिवेशिक शासन एक द्वंद्वात्मक स्थिति प्रस्तुत करता है। एक ओर उसने आधुनिकता, शिक्षा और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के माध्यम से परिवर्तन के अवसर प्रदान किए, दूसरी ओर उसने पारंपरिक संरचनाओं को भी बनाए रखा।

आर्थिक दृष्टि से दलित वर्ग का शोषण पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ। ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक बहिष्कार और श्रम शोषण जारी रहा। अस्पृश्यता की प्रथा सामाजिक व्यवहार में विद्यमान रही। कई स्थानों पर दलितों को सार्वजनिक स्थलों पर प्रवेश की अनुमति नहीं थी। परंतु अब उनके भीतर इस स्थिति के प्रति असंतोष और प्रतिरोध की भावना जन्म लेने लगी थी।

ब्रिटिश काल के उत्तरार्ध में दलित चेतना अधिक संगठित रूप में सामने आई। शिक्षा प्राप्त दलित युवाओं ने सामाजिक सुधार और राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष प्रारंभ किया। सामाजिक समानता और मानवाधिकार की अवधारणा ने उनके चिंतन को प्रभावित किया। यह काल दलित मनोवृत्ति के संक्रमण का काल था, जिसमें परंपरा और आधुनिकता के बीच संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है।

निष्कर्ष

इस लेख का निष्कर्ष यह है कि ब्रिटिश शासन ने दलित समाज की स्थिति में तत्काल क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं किया, किंतु परिवर्तन की संभावनाओं को जन्म दिया। दलित अवस्था में आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ बनी रहीं, परंतु मानसिक स्तर पर जागरण और आत्मचेतना का उदय हुआ। यही चेतना आगे चलकर संगठित दलित आंदोलन का आधार बनी।

अतः ब्रिटिश काल को दलित इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण के रूप में देखा जा सकता है। यह काल दमन और जागरण दोनों का संगम था। दलित समाज ने इसी अवधि में अपने अस्तित्व को नए दृष्टिकोण से देखना आरंभ किया। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की जो भावना इस काल में विकसित हुई, वही आगे चलकर सामाजिक परिवर्तन का प्रेरक तत्व बनी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. फुले, ज्योतिबा. (1873). 'गुलामगिरी.' पुणेः सत्यशोधक समाज प्रकाशन।
2. प्रेमचंद, मुंशी. (1934). 'साहित्य का उद्देश्य.' काशीः सरस्वती प्रेस।
3. फुले, ज्योतिबा. (1882). 'शेतकऱ्याचा असूड.' पुणेः सत्यशोधक समाज।
4. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1935). 'शिक्षा और समाज परिवर्तन पर भाषण.' मुंबईः नवयुग प्रकाशन।
5. कबीर, संत. (संपा. हजारी प्रसाद द्विवेदी, 1948). 'कबीर ग्रंथावली.' प्रयागः हिंदी साहित्य सम्मेलन।
6. प्रेमचंद, मुंशी. (1936). 'गोदान.' इलाहाबादः सरस्वती प्रेस।
7. प्रेमचंद, मुंशी. (1932). 'ठाकुर का कुआँ.' कहानी–संग्रहः मानसरोवर भाग 2। वाराणसीः सरस्वती प्रेस।
8. प्रेमचंद, मुंशी. (1932). 'कर्मभूमि.' लखनऊः गणेश प्रकाशन।
9. प्रेमचंद, मुंशी. (1936). 'गोदान.' इलाहाबादः सरस्वती प्रेस।
10. प्रेमचंद, मुंशी. (1936). 'कफन.' कहानी–संग्रहः मानसरोवर भाग 8। वाराणसीः सरस्वती प्रेस।
11. प्रेमचंद, मुंशी. (1934). 'साहित्य और समाज.' लेख–संग्रहः 'साहित्य का उद्देश्य।' काशीः सरस्वती प्रेस।
12. अंबेडकर, भीमराव रामजी. (1945). 'जातिभेद का विनाश (Annihilation of Caste).' नागपुरः अंबेडकर साहित्य समिति।
13. शर्मा, रामविलास. (1955). 'प्रेमचंद और उनका युग.' इलाहाबादः लोकभारती प्रकाशन।
14. ओमप्रकाश वाल्मीकि. (2000). 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र.' दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन।
15. सिंह, मोहनलाल. (2012). 'प्रेमचंद के साहित्य में सामाजिक यथार्थ.' नई दिल्लीः भारतीय ज्ञानपीठ।